धर्म-साधना के तीन आधार

—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि
(व० स्था० श्रमणसंघ के उपाचार्य,
शताधिक ग्रन्थों के लेखक,
बहुश्रुत विद्वान विचारक)

- दया/करुणा/अनुकम्पा
- सम्यग्दर्शन/ज्ञान/चारित्र
- विनय

धर्म क्या है ? और दर्शन क्या है ? यह जान लेने के बाद, हर साधक को यह जानना उपयोगी होता है कि आखिर इन दोनों की जड़ क्या है ? अर्थात्, धर्म और दर्शन की शुरुआत कहाँ से होती है ? इस जिज्ञासा को लेकर जब जैन-वाङ्मय में भ्रमण किया जाता है, तो यह पता चलता है कि यहाँ पर धर्म के मूल की तलाश में तीन आचार्यों ने अपने दृष्टिकोण प्रकट किये हैं। ये हैं :—

१. 'दया' धर्म की जड़ है। प्राणियों पर 'अनुकम्पा' करना दया है। यह दिगम्बर आचार्य जिनसेन का दृष्टिकोण[1] है।

२. तीर्थंकरों ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है कि धर्म की शुरुआत दर्शन से होती है। यह सिद्धान्त अध्यात्मवादी आचार्य कुन्दकुन्द[2] ने स्पष्ट किया है।

३. दशवैकालिक[3] में, श्वेताम्बर आचार्य शय्यम्भव ने बतलाया है कि धर्म का मूल 'विनय' है। क्योंकि 'विनय' से मोक्ष प्राप्त होता है।

---

१. दयामूलो भवेद्धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम्। —महापुराण, २१।५।९२
२. दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं। —दर्शनपाहुड, २
३. एवं धम्मो विणओ मूलं परमो से मोक्खो। —दशवैकालिक, ९।२।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दया का हार्द

आचार्य जिनसेन के दृष्टिकोण के समर्थन में आचार्य पद्मनन्दी ने[1] बड़ी साफ-साफ बात कही है और दया को धर्म का मूल बतलाते हुए उसकी प्रशंसा भी की है। वे कहते हैं—'प्राणिदया' धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, सारे व्रतों में मुख्य व्रत है, सम्पत्ति का और गुणों का भी भण्डार है। इसलिए हर प्राणी को अपने हृदय में दया को धारण करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वस्तुतः वे विवेकवान हैं।

यह सच है कि जिनेन्द्र भगवान का उपदेश करुणारूपी अमृत से लबालब भरा है।[2] और उसका प्रथम स्रोत दया-करुणा प्रेरित ही है। जो इस धर्म के वास्तविक अनुयायी हैं, उनके चित्त में करुणा तो अवश्य ही होनी चाहिए। क्योंकि प्रत्येक जिन का धर्मोपदेश देने के पीछे यह आशय रहता आया है—जिस मार्ग/साधन से मैंने स्वयं की आत्मा को सांसारिक बन्धनों से निकालकर यहाँ तक पहुँचाया है, उसी तरह, संसार के तमाम दुःखी जीव भी मेरे द्वारा अपनाये गये रास्ते पर चलें और स्वयं को मुक्त बनावें। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान की आत्मा, 'जिन' बनने के साथ ही करुणा के, दया के सागर को अपने आप में पूरा का पूरा समेट लेती है। यानी, उनमें दया का परिपूर्ण स्वरूप अवतरित हो जाता है। फिर भला वे दुःखी-दीन जनों को देखकर, द्रवित क्यों नहीं होंगे? इसलिए, उनके द्वारा जो भी उपदेश शिष्यों को दिया जाएगा, उसके एक-एक शब्द में करुणा का अमृत-सिन्धु भरा मिलेगा। जरूरत है, उस करुणामृत की तलाश की, पहचान की।

यह दया या करुणा किसी भी प्राणी में बाहर से नहीं आती। यह तो उसके भीतर रहने वाला एक ऐसा तत्त्व है, जो उससे कभी भी अलग रह ही नहीं सकता। क्योंकि यह करुणा या दया, न तो इस धरती पर पैदा होती है, और न ही किसी भौतिक पदार्थ में से उसे ढूँढ़ कर निकाला जा सकता है। यह तो 'चेतना' का अपना एक मौलिक गुण/धर्म है।

अनुकम्पा

करुणा/दया का समानार्थक एक और शब्द, जैनधर्म व दर्शन में प्रयोग किया गया मिलता है। वह है—'अनुकम्पा'। इस शब्द का अर्थबोध भी आचार्यों ने अलग-अलग ढंग से दिया है।

बृहत्कल्पसूत्रवृत्ति में आचार्य मलयगिरि ने लिखा है "अनु—पश्चात् दुःखितसत्वकम्पनादनन्तरं यत्कम्पनं सा अनुकम्पा" (१३२०)। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति में लिखा है—दुःखियों को निहार कर बिना पक्षपात के दुःख को दूर करने की इच्छा अनुकम्पा है (२/१५)। ये ही भाव त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र में भी अभिव्यक्त हुए हैं। (१/३/६१५-६१६)

तीन भेद अनुकम्पा के

भगवती आराधना में अनुकम्पा को तीन भागों में विभाजित कर दिया गया है। ये विभाग हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा।

संयमी मुनियों पर दया करना 'धर्मानुकम्पा' है। यह धर्मानुकम्पा जब किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में उत्पन्न होती है, तब वह विवेकवान सद्गृहस्थ श्रमणों—निर्ग्रन्थों को योग्य अन्न, जल, निवास,

---

१. मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम्।
गुणानां निधिरित्यंगि दया कार्या विवेकिभिः॥ —पद्मनंदि पंचविंशतिका, ३८

२. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औषधि आदि पदार्थ देकर उनकी सेवा करता है। साथ ही, अपनी पूरी सामर्थ्य के अनुसार मुनियों के उपसर्ग आदि को दूर करने में प्रवृत्त होता है। कभी कोई मुनि उसे भटका हुआ मिलता है, तो वह उन्हें सही रास्ता बतला कर, अपने भाव को साकार करता है। सभाओं, आयोजनों आदि सामूहिक गोष्ठियों में वह उन मुनिजनों के गुणों की प्रशंसा करता है, और चाहता है कि साधुओं/मुनियों का सत्संग उसे हमेशा मिलता रहे।

आशय यह है कि साधु/मुनि के गुणों की प्रशंसा करना, अनुमोदन करना, और अनुसरण करना आदि समस्त भाव, 'धर्मानुकम्पा' के माने गये हैं।

गृहस्थ व्यक्तियों पर जो दया की जाती है, उसे 'मिश्रानुकम्पा' कहते हैं। क्योंकि गृहस्थों में अधिकांशतः ऐसे होते हैं, जो जीवों पर दया तो करते हैं किन्तु दया के समग्र स्वरूप को वे नहीं जानते। इनके अलावा, उन लोगों पर भी, जो जिन-सूत्र से बाहर हैं, पाखण्डी गुरु की अर्चना/उपासना करते हैं, इन सब पर कृपाभाव रखना 'मिश्रानुकम्पा मानी गई है। जो व्यक्ति, गृहस्थधर्म का पालन कर रहे हैं किन्तु अन्य धर्मों का पालन करने वालों के प्रति दया/अनुकम्पा की भावनाएँ रखते हैं, ऐसे गृहस्थों पर अनुकम्पा का भाव भी 'मिश्रानुकम्पा' है।

'मृदुता' चेतना का मौलिक गुण है। वह जिस तरह एक सम्यग्दृष्टि में स्वभावतः मौजूद रहती है, उसी तरह मिथ्यादृष्टि में भी उसको सहजता से देखा जा सकता है। यह दोनों ही प्रकार के व्यक्ति समस्त प्राणियों पर दया/अनुकम्पा भी करते रहते हैं। इन दोनों की यह 'अनुकम्पा', चूंकि हर प्राणी के प्रति समान व्यवहार के साथ होती है। इसलिए, इन दोनों की अनुकम्पा को 'सर्वानुकम्पा' के अन्तर्गत माना जाता है।

निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि जब 'अनुकम्पा' का विषयभूत जीव/प्राणी धर्म-क्षेत्र से सम्बन्धित होगा, तब उस धार्मिक व्यक्ति/जीव के प्रति होने वाला करुणाभाव, 'धर्मानुकम्पा' कहा जाएगा। इसी तरह, अनुकम्पा का विषय जब कोई ऐसा प्राणी हो जो 'संयतासंयत' के दर्जे में आता हो, तो उसके प्रति होने वाला दया/करुणा भाव 'मिश्रानुकम्पा' होगा। और जिस अनुकम्पा का विषय हर प्राणी/जीव बन सकता हो, यानी समस्त जीवों को अपना विषय बनाने वाली करुणा/अनुकम्पा को 'सर्वानुकम्पा' कहा जाएगा।[1]

'अनुकम्पा' के इस स्वरूप विश्लेषण के साथ जब 'दया' या 'करुणा' के स्वरूप को मिलाकर विचार किया जाता है, तब यह निष्कर्ष सामने आता है कि, जिसे हम 'दया' कहते हैं, वह चाहे तो 'करुणा' के नाम से पुकारी जाये, अथवा 'अनुकम्पा' के नाम से, इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है। क्योंकि, इन तीनों में 'नाम' भर की भिन्नता, भले ही दिखलाई पड़ रही हो, वस्तुतः यह तीनों ही शब्द, आत्मा के जिस विशेष भाव को व्यक्त करते हैं वह भाव हर जीवात्मा में, उसके अन्य मौलिक गुणों के साथ सहज ही मौजूद रहता है। और, जब भी उसे अनुकूल वातावरण मिलता है, द्रवित हो उठता है।

१ विशेष जानकारी के लिए देखें—भगवती-आराधना की विजयोदया टीका—१८३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'सम्यग्दर्शन' को धर्म का मूल माना है। क्योंकि इसके बिना 'ज्ञान' ज्ञान नहीं रहता, ज्ञान के बिना चारित्र नहीं पनप पाता, चारित्रहीन को मोक्ष नहीं मिलता, और मोक्ष के अभाव में निर्वाण नहीं प्राप्त होता।[1] मगर, वह 'दर्शन' है क्या ? इस बारे में जैनाचार्यों ने अलग-अलग ढंग से अपने मत प्रकट किये हैं।

उमास्वाति का कहना है—अपने-अपने स्वभाव में स्थित तत्त्वार्थों का श्रद्धान, 'सम्यग्दर्शन'[2] है। इन्होंने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, यह सात तत्त्व माने हैं। आचार्य हेमचंद्र आदि ने भी ये ही सातों तत्त्व बतलाये हैं। उत्तराध्ययन में, इन सातों के साथ पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्व[3] कहे हैं। जिन आचार्यों ने सात तत्त्व माने हैं, वे पुण्य और पाप को बंध के अन्तर्गत मानते हैं।

अन्य कुछ आचार्यों ने पदार्थों के विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान[4] को सम्यग्दर्शन बतलाया है, तो कुछ ने पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना है। सूत्रपाहुड में उक्त तत्त्वों के प्रति हेय व उपादेय बुद्धि[5] को सम्यग्दर्शन कहा है तो मोक्षपाहुड में तत्त्वरुचि[6] को सम्यग्दर्शन बतलाया गया है।

नियमसार में सम्यक्त्व की चर्चा के सम्बन्ध में बतलाया गया है—आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व[7] होता है। यानी इन तीनों पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में इसी कथन को कुछ और स्पष्ट किया गया है—तीन प्रकार की मूढ़ता और आठ प्रकार के मद से रहित होकर, सत्यार्थ देव, शास्त्र और गुरु पर आठों अंगों सहित श्रद्धान करना[8] सम्यग्दर्शन है।

---

१. नादंसणिस्स नाणं नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥
—उत्तराध्ययन, २८/३०

२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्।
—तत्त्वार्थसूत्र, १/२, ४

३. जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावाऽऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संते ए तहिया नव॥
—उत्तराध्ययन, २८/१४

४. (क) पञ्चास्तिकाय—तात्पर्यख्यावृत्ति, १०७
(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २२
(ग) समयसार, १५५

५. सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी॥
—सूत्रपाहुड, ५

६. तच्चरुई सम्मत्तं। - -मोक्षपाहुड, ३८

७. अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं। —नियमसार, ५

८. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥
—रत्नकरण्डक श्रावकाचार, ४

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

तीन वर्ग

इन सारे लक्षणों का निचोड़ यदि निकाला जाये तो मुख्य रूप से इनके तीन वर्ग बनते हैं। पहला वर्ग है, तत्त्वार्थों/पदार्थों का श्रद्धान, दूसरा—देव, शास्त्र व गुरु तथा धर्म पर श्रद्धान, तथा तीसरा वर्ग—स्व-पर के भेदविज्ञान के साथ शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप श्रद्धान।

इन लक्षणों में जहाँ पर आप्त, आगम व तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यक्दर्शन बतलाया गया है, वहाँ पर पूर्व के दो वर्गों का सम्मिलित रूप लिया गया है। क्योंकि यह दोनों ही वर्ग, सम्यग्दर्शन के व्यवहार पक्ष को लेकर किये गये हैं। जहाँ 'तत्त्वरुचि' को सम्यग्दर्शन कहा गया है, वह कथन, उपचारवश किया गया समझना चाहिए। क्योंकि रुचि कहते हैं—'इच्छा' को, या 'अनुराग' को। जिनका मोह नष्ट हो जाता है, उनमें तो 'रुचि' का अभाव हो जाता है। अतः 'तत्त्वरुचि' या 'अतीन्द्रिय सुख की रुचि' अथवा 'शुद्धात्मरुचि' को सम्यग्दर्शन मानेंगे, तो ऐसे सम्यग्दृष्टि में 'मोह' की सत्ता माननी पड़ेगी। मोह की उपस्थिति में 'सम्यक्त्व' को कैसे स्वीकार किया जायेगा? क्योंकि, सम्यक्त्व के अभाव में न तो 'सम्यग्दर्शन' ही हो पाता है, और न ही 'सम्यग्ज्ञान'। इसलिए, जहाँ भी 'रुचि' को सम्यग्दर्शन के लक्षण के साथ जोड़ा गया है, वह प्रयोग, उपचारवश माना जाना चाहिए, और 'तत्त्वरुचि' के प्रसंग में उसे 'अशुद्धतर नय' की[1] अपेक्षा से कहा गया जानना चाहिए।

पूर्व में जो तीन वर्ग बनाये हैं, उन वर्गों का परस्पर न तो कोई सैद्धान्तिक भेद है, न ही अलगाव। बल्कि, यह भिन्नता, भिन्न-भिन्न स्तरों को लक्ष्य में रखकर, भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ही मानी जानी चाहिए। इसी बात को यहाँ विशेष रूप से स्पष्ट किया जा रहा है।

एक सम्यग्दृष्टि जीव को, उनका जैसा श्रद्धान होता है, वैसा श्रद्धान मिथ्यादृष्टि जीव का कभी नहीं होता। क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीव, अपने पक्ष के मोहवश अर्हन्त देव आदि का श्रद्धान करता है। अर्हन्त देव आदि के यथार्थ स्वरूप की पहचान, चूँकि एक मिथ्यादृष्टि जीव को नहीं होती, अतः उसका अर्हन्तदेव आदि के प्रति जो पक्षमोहवश श्रद्धान होता है, वह यथार्थ श्रद्धान नहीं होता। यथार्थ श्रद्धान तो उसे तभी हो पाएगा, जब वह इन अर्हन्त आदि के यथार्थ स्वरूप की पहचान कर सकेगा। जिनके यथार्थ श्रद्धान होता है, उन्हें अर्हन्तदेव आदि के यथार्थ स्वरूप का भी श्रद्धान होता है। क्योंकि, अर्हन्त देव आदि के यथार्थ स्वरूप की जिसे पहचान है, उसे जीव आदि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की पहचान होगी ही। इन दोनों बातों को परस्पर में अविनाभावी जानना चाहिए। इसी वजह से अर्हन्तदेव आदि के श्रद्धान को 'सम्यक्त्व' या 'सम्यग्दर्शन' कहा गया है।

'तत्त्व श्रद्धान' को सम्यग्दर्शन मानने में भी अर्हन्तदेव आदि के श्रद्धान की बात गर्भित है। तत्त्व समूह में 'मोक्ष तत्त्व' सर्वोत्कृष्ट है। और मोक्ष की प्राप्ति के पूर्व 'अर्हन्त' पद की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जिससे यह स्पष्ट हो सके, कि बिना अर्हन्त हुए कोई जीवात्मा मोक्ष-लाभ कर सका है। अतः, मोक्ष में श्रद्धान में होने पर, 'अर्हन्त' में श्रद्धान अनिवार्यतः होता है।

मोक्ष के कारण हैं—संवर और निर्जरा तत्त्व। ये दोनों उन मुनियों के सम्भव होते हैं जो निर्ग्रन्थ हैं, वीतरागी हैं। यानी, जो मुनि, संवर-निर्जरा के धारक होंगे, वास्तव में वे ही सच्चे 'गुरु' माने

---

१. अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम् अशुद्धतरनय-समाश्रयणात्। —षट्खंडागम—पुस्तक १, पृष्ठ १५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सकते हैं। इन गुरुजनों पर श्रद्धान होने का अर्थ होता है—संवर निर्जरा तत्त्वों पर श्रद्धान होना। और संवर-निर्जरा तत्त्वों पर श्रद्धान होने का मतलब होता है सच्चे गुरु पर श्रद्धान होना। पूर्व की भाँति, ये दोनों भी, परस्पर अविनाभावी या अन्योन्याश्रित माने जा सकते हैं।

इसी प्रकार, राग आदि से रहित भाव को 'अहिंसा'[1] कहते हैं। 'अहिंसा' को ही उपादेय धर्म माना गया है। अतः रागादि से रहित भावरूप धर्म को 'सच्चा धर्म' कहा जा सकता है। इसी पर श्रद्धान करना, सच्चे धर्म का श्रद्धान होगा।

इस प्रकार, 'तत्त्व श्रद्धान' में अर्हन्तदेव आदि का श्रद्धान और 'अर्हन्त देव आदि के श्रद्धान' में तत्त्वश्रद्धान का भाव अन्तर्निहित है।

विनय

विनय से ज्ञान-लाभ, आचार विशुद्धि और सम्यगाराधना की सिद्धि होती है। और, अन्त में मोक्षसुख[2] भी मिलता है। अतः, विनय की भावना अवश्य ही करनी चाहिए। 'विनय' की इस महत्ता को देखते हुए दशवैकालिक में इसे धर्म का 'परममूल' कहा गया है। उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में विनय की सविस्तृत व्याख्या है। भगवती, स्थानाङ्ग और औपपातिक में विनय के विविध प्रकार बताये हैं। पर विस्तारभय से हम उन सबकी चर्चा यहाँ कर नहीं रहे हैं। भावपाहुड में भी, विनय के माहात्म्य को स्वीकार करके, साधु/मुनि को सलाह देते हुए कहा गया है—'हे मुनि! पाँच प्रकार की विनय को मन, वचन व काय से पालन करो। क्योंकि, विनय से रहित व्यक्ति, सुविहित मुक्ति को प्राप्त नहीं करते[3] हैं।' इस कथन की पुष्टि वसुनन्दि श्रावकाचार[4] में भी की गई है।

विनय के पाँच प्रकार यह हैं :—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्र-विनय, तपविनय व उपचार-विनय। यह पाँचों, मोक्षगति के नायक माने गये हैं।[5] भगवती आराधना[6] और वसुनन्दि श्रावकाचार[7]

---

१. रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्त त्ति भासिदं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसे त्त जिणेहि णिद्दिट्ठा॥ —सर्वार्थसिद्धि, ७/२२ पर उद्धृत

२. ज्ञानलाभाचारविशुद्धि सम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनम्। ततश्च निवृत्ति सुखमिति विनयभावनं क्रियते।
—राजवार्तिक, ९/२३/७

३. विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्ति ण पावंति॥ —भावपाहुड, १०२

४. वसुनन्दिश्रावकाचार, ३३५

५. मूलाचार, ३६४

६. विणओ मोक्खद्दारं विणआदो संजमो तवो णाणं।
णिगएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य॥ ....
कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो।
तित्थयराणां आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा॥ —भगवती आराधना, १२९-१३१

७. देविंद चक्कहर मंडलीयरायाइजं सुहं लोए।
तं सव्वं विणयफलं णिव्वाणसुहं तहा चेव॥ —वसुनन्दि श्रावकाचार, ३३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में भी, विनय से प्राप्त होने वाले उन तमाम गुणों की विस्तृत विवेचना की गई है, जो इस लोक के व्यवहार में, और परलोक में सुख की प्राप्ति में सहयोगी बनकर, उसे परम-प्रतिष्ठा दिलाते हैं।

इन सारे कथनों का सार-संकेत करते हुए पण्डित-प्रवर आशाधर ने कहा है—मनुष्य भव का सार आर्यता, कुलीनता आदि है। इनका भी सार जिनलिंग धारण है। इसका भी सार जिनागम की शिक्षा है। और इस शिक्षा का भी सार, यह विनय है। क्योंकि, इस विनय के प्रकट होने पर सज्जन पुरुषों के गुण भली-भाँति स्फुरायमान होने लगते हैं।[1]

यह है विनय का माहात्म्य। इसे गहराई से देखा जाय तो यह सहज ही बोध होता है कि 'विनय' को, जिस तरह लौकिक सम्पदाओं की प्राप्ति में सहयोगी बतलाया है, उससे, इसे मोक्षमार्ग में सहयोगी मानने में कोई शंका शेष रह जाती है क्या ? विनय तप की व्यावहारिकता को देखकर, कोई यह अनुमान नहीं कर सकता कि इसका मोक्ष प्राप्ति में कोई सीधा सम्बन्ध बनता है।

मोक्ष की प्राप्ति में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मूल कारण मानना, जैनशास्त्रों का निचोड़ है। इस रत्नत्रय में ज्ञान का अपना महत्त्व है। ज्ञान के बिना सम्यक्श्रद्धान और सम्यक्चारित्र में परिपूर्णता नहीं आ पाती। यह जितना सच है, उतना ही सच यह है कि सम्यग्ज्ञान, आगमों के सर्वांगीण अध्ययन, मनन और चिन्तन के बिना सम्भव नहीं होता।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रों के चिन्तन और मनन की सामग्री, उनके अध्ययन की परिपक्वता पर आधारित रहती है। यदि शास्त्रों का अध्ययन, सच्चे गुरु के द्वारा, सही पद्धति से न हो पाये, तो उस अधीत शास्त्र विषय पर चिन्तन-मनन का आधार नहीं बन पाता। इस दृष्टि से, शास्त्रों की जो महत्ता ज्ञान के प्रसंग में आंकी गई है, इससे कम मूल्य, सच्चे गुरु का नहीं माना गया है। बल्कि, गुरु की परिपक्वता को अधिक महत्त्व दिया गया है।

ऐसे गुरु के प्रति, हर मुमुक्षु को, या ज्ञान की इच्छा रखने वाले को श्रद्धा-भक्ति रखना एक अनिवार्य कार्य माना गया है। इसे 'गुरु-भक्ति' या 'गुरु-विनय' के नाम से ग्रन्थों में बतलाया गया है। गुरु-भक्ति की प्रशंसा करते हुए, रयणसार, राजवार्तिक, भगवती आराधना, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, आदि में कहा गया है—'गुरु-भक्ति से अज्ञान-अंधकार का नाश होता है। अज्ञान के विनाश से सम्यग्ज्ञान का उदय होता है और सम्यग्ज्ञान के उदय, विकास और परिपूर्णता से चारित्र पुष्ट होता है। तब, मोक्षरूपी फल को प्राप्त करना सम्भव होता है।'

इस कथन से साफ-साफ पता चलता है कि, 'गुरु-भक्ति' या 'गुरु-विनय' को मोक्ष-प्राप्ति में परम्परा से, किन्तु एक सीधा कारण माना गया है। इसी तरह, दर्शन, चारित्र आदि विनयों का भी मोक्ष से परम्परया, सीधा सम्बन्ध जुड़ा है।

आशय यह है कि, पाँचों प्रकार की विनय को मोक्ष से सीधा जुड़ा होने के कारण, दशवैकालिक आदि आगमों में उसे 'धर्म का मूल' माना गया है।

---

१. सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूप संपदिहार्हती।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः॥ —अनगार धर्मामृत, ७/६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य रूप से तो पूज्य पुरुषों का आदर करना,[1] 'विनय' है। मोक्ष के साधनभूत जो सम्यग्ज्ञानादि हैं, उनमें, तथा उनके साधकों—गुरु आदि के प्रति भी, योग्य रीति से सत्कार आदि देना, तथा कषायों की निवृत्ति आदि करना,[2] 'विनयसम्पन्नता' माना गया है। रत्नत्रय को धारण करने वाले व्यक्तियों के प्रति नम्रता धारण करने को,[3] अधिक या उत्कृष्ट गुण वाले व्यक्तियों के प्रति नम्र-वृत्ति धारण करने[4] को और इंद्रियों को नम्र करने[5] को भी 'विनय' माना गया है।

यह लक्षण, विनय के नम्रता अर्थ को लेकर किये गये हैं। किन्तु, कुछ आचार्यों ने, इस अर्थ से भिन्न अर्थ करते हुए, विनय के कुछ और ही लक्षण माने हैं। जिनमें से यह लक्षण मुख्य हैं :—

दर्शन, ज्ञान और चारित्र के द्वारा जो विशुद्ध परिणाम[6] होता है, वही उनकी विनय है। कर्ममल को जो नाश करता[7] है, वह विनय है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के अतिचार रूप जो अशुभ क्रियायें हैं, उनको हटाना[8] विनय है। अपने निश्चय रत्नत्रय की शुद्धि[9] निश्चयविनय है। और उसके आधारभूत पुरुषों—आचार्य आदि की भक्ति से उत्पन्न होने वाले जो परिणाम हैं, वे व्यावहारिक विनय हैं।

इस सबसे अधिक स्पष्ट और सरल भाषा में विनय का वह लक्षण है :—मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र, तथा सम्यक्तप के दोषों को दूर करने के लिए, जो कुछ प्रयत्न करते हैं,[10] उसको विनय कहा गया है। और, इस प्रयत्न करने में, अपनी शक्ति को न छिपाकर, शक्ति अनुसार भक्ति करते रहना, 'विनयाचार' है।

इस समस्त विवेचना का आशय यह है कि 'विनय' शब्द 'नि' उपसर्गपूर्वक नी—नयने धातु से बना है। विनयतीति विनयः। यहाँ पर, 'विनयति' इस शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—दूर करना और

---

१. पूज्येष्वादरो विनयः। —सर्वार्थसिद्धि, ६/२०

२, सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कारः आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। —राजवार्तिक, ६/२४/२

३. रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। —धवला, १३/५-४-२६

४. गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। —कषायपाहुड, १/१-१/९०

५. चारित्रसार, १४७

६. दंसणणाणचरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो।
वारस भेदे वि तवे सो च्चिय विणओ हवे तेसिं॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४७

७. यद्विनश्यत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम्।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययंकृत्यः॥ —अनगार धर्मामृतम्, ७/६१

८. ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचाराः अशुभ क्रियाः। तासामपोहनं विनयः।
—भगवती आराधना विजयोदया, ६/३२

९. स्वकीय निश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चयविनयः। तदाधारपुरुषेषु भक्ति परिणामो व्यवहारविनयः।
—प्रवचन० -तात्प० वृ-२२५

१०. सुदृग्धीवृत्त तपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तु॥ —सागार धर्मामृतम्, ७/३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष रूप से (किसी वस्तु को) प्राप्त करना। विनय, साधनामार्ग में रुकावट बनकर खड़े अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है, और जिन-वचन के ज्ञान को प्राप्त कराती है। जिसका फल मोक्ष है अर्थात्, 'विनय' में वह सब सामर्थ्य छिपी हुई है, जिसकी कामना करते हुए एक वैदिक ऋषि कहता है—

असतो मा सद्गमय !
तमसो मा ज्योतिर्गमय !!
मृत्योर्मा अमृतं गमय !!!

भारतीय संस्कृति का हर शास्त्र इस बात से सहमत है कि विद्या (ज्ञान) विनय की दात्री है। विनय से व्यक्ति में वह पात्रता आती है, जिससे वह धर्म को धारण करने लायक बनता है। और, धर्म को धारण करने से सुख प्राप्त होता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आचार्य जिनसेन ने 'दया' को, कुन्दकुन्द ने 'सम्यग्-दर्शन' को, और दशवैकालिक आदि आगमों में 'विनय' को धर्म का मूल कहने से जो विरोध या विसंगति देखी जा रही है, वह अतात्त्विक है। इन आचार्यों की यह दृष्टिभिन्नता, विवाद का विषय नहीं है। बल्कि, यह समझने के लिए है कि चाहे तो हम 'दया' को परिपूर्ण बनाकर अपना चरित्र उत्तम बनाएँ, चाहें तो 'सम्यग्दृष्टि' के माध्यम से स्वयं को उन्नत बनाएँ, अथवा, 'विनय' के माध्यम से हम अपने आचार-विचार को इतना विशुद्ध/पवित्र बनाएँ, जिससे, हम उस 'धर्म' तत्त्व के मर्म को समझ सकें। अपने चरित्र में उसे उतार सकें। यह दृष्टिभेद देखकर विवाद में उलझना, धर्म के मर्म को छेदने जैसा होगा। क्योंकि, दया, सम्यक्त्व और विनय, तीनों में ही समान रूप से वह सामर्थ्य समाया हुआ है, जो इनके आराधक को धर्म के दरवाजे तक सहज ही पहुँचा सकता है।

○ ○

जत्थ य विसय विराओ कसाय चाओ गुणेसु अणुराओ।
किरिआसु अप्पमाओ, सो धम्मो सिवसुहो लोएवाओ।

जिसमें विषय से विराग, कषायों का त्याग, गुणों में प्रीति और क्रियाओं में अप्रमादीपन है, वह धर्म ही जगत् में मोक्ष सुख देने वाला है।

—प्राकृत सूक्ति कोष १४३
(महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर जी)

卐 卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org